



## International Journal of Sanskrit Research

अनन्ता

ISSN: 2394-7519

IJSR 2015; 1(4): 70-72

© 2015 IJSR

www.sanskritjournal.com

Received: 04-04-2015

Accepted: 10-05-2015

डॉ० (श्रीमती) वन्दना द्विवेदी

असि० प्रोफेसर (संस्कृत), श्री अग्रसेन  
महिला महाविद्यालय, आजमगढ़  
(उ०प्र०)।

### बौद्धों के अनात्मवाद के क्रम में कर्म एवं पुनर्जन्म सिद्धान्त का समीक्षात्मक विमर्श

डॉ० (श्रीमती) वन्दना द्विवेदी

#### Abstract

बौद्ध दर्शन अन्य दर्शनों की भाँति किसी स्थायी आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता है। यद्यपि बुद्ध 'आत्मा' को अहंकार-ममकार का केन्द्र मानकर उसे समस्त क्लेशों और अनर्थों का स्रोत मानते हैं, क्योंकि इससे रागादि-दोष उत्पन्न होता है, विवेक और वैराग्य नहीं। बुद्ध ने अपने शिष्य आनन्द से कहा कि मेरे जाने के बाद तुम शोक मत करना। तुम सबको मेरा यही कहना है—“आत्मदीपो भव, आत्मषरण भव, धर्मदीपो भव....”<sup>1</sup>

**Key Words** - अनात्मवाद, प्रमाता, उच्छेदवाद आदि बुद्ध उपनिषद् के अद्वैतवाद से प्रभावित दिखते हैं, किन्तु उपनिषद् की “आत्मा” और बुद्ध की ‘आत्मा’ में महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि उपनिषद् आत्मतत्त्व को “नेति-नेति” और ‘अनिर्वचनीय’ मानकर ही साक्षात्कार पर बल देते हैं और यही बौद्ध दर्शन में “अनात्मवाद” के विषय में भ्रान्ति का कारण बना। अपरोक्षानुभूति के लिए बुद्ध ने “शुद्ध आत्मतत्त्व” के स्थान पर निर्वाण पद का प्रयोग किया है। “अनात्मवाद” को स्वीकार करने के कारण बौद्ध दर्शन पुनर्जन्म को स्वीकार नहीं करता है।

(4) दीघनिकाय-15-महानिदान सुत्त।

(5) माध्यमिक वृत्ति-भारतीय दर्शन में ‘आत्मा’ शब्द को तीन व्यापक अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है। प्रथम व्यावहारिक प्रमाता के रूप में है, जो कि ‘जीवात्मा’ है और जिसका लक्षण सीमित ज्ञाता, कर्ता, भोक्ता माना जाता है। द्वितीय ‘तात्त्विक जीवात्मा’ के रूप में है, जो शुद्ध अहं या व्यक्तित्व का केन्द्र है तथा जो नित्य चेतन द्रव्य रूप में संख्या में अनेक हैं। तृतीय विषुद्ध साक्षी या द्रष्टा के रूप में-जो शुद्ध, चैतन्य तथा अखण्ड आनन्द स्वरूप “परमात्मतत्त्व” है, जो स्वतः सिद्ध एवं शुद्ध निरपेक्ष स्वप्रकाश रूप चैतन्य है।

प्रमाता की व्यावहारिक सत्ता लगभग सभी भारतीय दर्शनों में स्वीकार्य है। बुद्ध ने ‘आत्मा’ शब्द का प्रयोग “व्यावहारिक प्रमाता” तथा “तात्त्विक जीवात्मा” दोनों के लिए किया है तथा दोनों का अपने दर्शन में प्रबल खण्ड भी किया है। बौद्ध दर्शन में आत्मा सम्बन्धी विचार को “अनात्मवाद” कहा गया है, क्योंकि यह अन्य दार्शनिकों की भाँति किसी नित्य, स्थायी और शाश्वत् चेतन आत्मा में विश्वास नहीं करता, जो कि यह मानता हो कि आत्मा की सत्ता जन्म से पूर्व और मृत्यु के बाद भी रहती है।

बौद्ध दर्शन के शाश्वतवादी और उच्छेदवादी दोनों मतावलम्बी मानते हैं कि संसार में सब कुछ अनित्य है और सब कुछ क्षणिक है—“सर्वक्षणिकं सर्वं अनात्मकं निर्वाण शान्तम्”।

प्रायः सभी दार्शनिक विचारधारा यह स्वीकार करती है कि बुद्ध ने ओपनिषदीय ‘आत्मवाद’ के विरुद्ध अपना आत्मा से सम्बन्धित सिद्धान्त ‘नैरात्म्यवाद’ को प्रतिस्थापित कर नवीन दार्शनिक प्रवृत्ति को जन्म दिया था, किन्तु इस सिद्धान्त की वस्तुतथ्यता, असत्य एवं भ्रामक है, क्योंकि कभी भी बुद्ध ने उपनिषद् द्वारा प्रतिपादित शुद्ध धिदानन्द रूप निरपेक्ष तत्त्व या अपरोक्षानुभूति का तर्कतः खण्डन नहीं किया है, बल्कि लोक व्यवहार के अधिष्ठान के रूप में इसे स्वीकार किया है। यदि निरपेक्ष दृष्टिकोण से देखा जाये, तो यह स्पष्ट होता है कि कहीं न कहीं किसी न किसी रूप में बुद्ध उपनिषद् के अद्वैतवाद से अत्यधिक प्रभावित थे और इसी उपनिषदीय अद्वैतवाद का बुद्ध ने अपने जीवन में उपदेश दिया है। उपनिषद् और बुद्ध के सिद्धान्त में यह अत्यधिक सूक्ष्म अन्तर दृष्टिगत होता है कि जहाँ उपनिषद् ने परमतत्त्व को “शुद्ध आत्म तत्त्व” की संज्ञा से अभिहित करता है, वहाँ बुद्ध आत्म तत्त्व के लिये “नेति-नेति” और अनिर्वचनीय शब्द का प्रयोग कर उसके साक्षात्कार को ही महत्व देते रहे हैं और यहीं से अनात्मवाद के विषय में भ्रान्ति का मिथ्या जाल प्रचारित होता गया, जो क्रमेण और दृढ़ होता गया।

Correspondence:

डॉ० (श्रीमती) वन्दना द्विवेदी

असि० प्रोफेसर (संस्कृत), श्री अग्रसेन  
महिला महाविद्यालय, आजमगढ़  
(उ०प्र०)।

बुद्ध ने अपरोक्षानुभूति के लिये शुद्ध आत्म तत्त्व के स्थान पर “निर्वाण” पद का प्रयोग किया है। औपनिषदीय ऋषियों द्वारा परमात्म या शुद्ध आत्म तत्त्व के लिये जिन विप्लेषणों का प्रयोग किया था, उन विप्लेषणों का प्रयोग बौद्ध दर्शन में बुद्ध ने निर्वाण के लिये किया है।

बौद्ध दर्शन कभी भी किसी भी वस्तु या पदार्थ की सत्ता को स्थायी नहीं मानता है, क्योंकि इस दर्शन की यह धारणा है कि एक क्षण में जो पदार्थ हमें दृष्टिगोचर हाते हैं, वही दूसरे क्षण में नष्ट हो जाते हैं। जो भी सत्तावान दिखता है, सभी क्षण भंगूर है। ऐसा कहा जाता है कि स्थायिता का हमारा सिद्धान्त स्व या आत्मा की स्थायिता की धारणा पर आधारित होता है। बौद्ध दर्शन ‘स्व’ को भी स्थायी नहीं मानता है। ‘स्व’ के रूप में जो दृष्टिगत होता है, वह केवल विचारों, भावनाओं तथा सक्रिया प्रवृत्तियों समवाय रूप में ही किसी क्षण विषेष में प्रतिभासित होती हैं और अगले क्षण में तिरोहित हो जाती हैं। और उनसे निःसृत अन्य भावनायें और प्रवृत्तियाँ प्रतिभासित होती हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि भावनाओं, प्रत्ययों और कियारूप प्रवृत्तियों से परे कोई ‘स्व’ या आत्मा नहीं है। इसका समवाय ही ‘आत्मा’ के एक भ्रमात्मक प्रत्यय की सृष्टि के लिये मुख्य रूप से उत्तरदायी हैं। किसी क्षण विषेष में इस समवाय द्वारा आत्मा का अस्तित्व पता चलता है और वही अगले क्षण ही ये भावना प्रत्यय आदि बदल जाते हैं। अतः स्थायी आत्मा जैसी कोई चीज नहीं रह जाती है।

‘प्रत्याभिज्ञानिरास’ तथा ‘न्याय मंजरी’ नामक ग्रन्थों में आत्मा से सम्बन्धित वर्णन करते हुए कहा गया है कि— “जब मैं यह कहता हूँ कि ‘यही वह पुस्तक है’, मैं इस पुस्तक को अपनी आँख से वर्तमान क्षण में देखता हूँ, किन्तु यह बात कि ‘यह पुस्तक वही पुस्तक है (जो कि मेरी स्मृति में इस समय है)—चक्षुरिन्द्रिय गम्य नहीं है” वह पुस्तक स्मृतिगत किसी भूतकालिक पुस्तक का द्योतन करती है, जब कि यह पुस्तक आँख के सामने है। इस प्रकार स्थायितता को सिद्ध करने के लिए प्रत्याभिज्ञा की जो भावना काम में लाई जाती है, वह स्मृतिगत किसी पदार्थ में जो भूतकालिक है और सुतरां विभिन्न है। वर्तमान कालिक और इन्द्रियगम्य किसी पदार्थ का भ्रमण पैदा करने के कारण जन्म लेती है।” और इस प्रकार का तर्क केवल वाह्य पदार्थों की प्रत्याभिज्ञा और स्थायिता पर ही घटित नहीं हाती है, अपितु आत्मा के स्थायित्व की धारणा पर भी घटित होती है, क्योंकि आत्मा प्रत्याभिज्ञा स्मृति में उत्थित कुछ प्रत्ययों या भावनाओं के साथ वर्तमान क्षणागत तत्समान भावनाओं या प्रत्ययों का घपला कर देने से उद्भूत होती है। चूंकि स्मृति भूतकालिक प्रत्यक्ष के पदार्थों को ही भासित करती है और प्रत्यक्ष वर्तमान कालिक पदार्थों को भासित करता है। इन दोनों का घालमेल कर देने से प्रत्याभिज्ञा की सिद्धि नहीं हो पाती है। हर क्षण संसार का पदार्थ विनाष और तिरोधान की प्रक्रिया से गुजरता रहता है। फिर भी पदार्थ हमें स्थायी जैसे ही लगते हैं और विनाष की क्रिया हमें प्रतीत नहीं हो पाती है। जैसा कि हम देखते हैं कि हमारे केश और नख बढ़ते हैं, काटे जाते हैं, किन्तु हमको यही ज्ञात होता है कि यह वही नख है, वही केश है, जो पहले थे। पुराने केशों और नखों के बजाय उसके स्थान पर नवीन उद्भूत हो जाते हैं, पर प्रतीत होता है कि यह वही पुराने हैं। इस प्रकार ऐसा होता है कि पुराने पदार्थों की बजाय हर क्षण ठीक उन्हीं के समान नये पदार्थ उत्पन्न होते रहते हैं और पुराने पदार्थ अगले क्षण नष्ट होते रहते हैं, किन्तु ऐसा लगता है कि यह वही पुराने पदार्थ अस्तित्व में हैं।<sup>12</sup> इस प्रकार बौद्ध अनात्मवाद यह मानता है कि आत्मा स्थायी नहीं है, क्योंकि बौद्ध दार्शनिक मान्यता के अनुसार सब कुछ क्षणिक अनित्य तथा परिवर्तनशील है। अतएव किसी नित्य शाश्वत और अपरिणामी, स्थायी एवं अपरिवर्तनीय आत्मा को स्वीकार करना कदापि संभव नहीं है। स्थायी आत्मा के अस्तित्व को नकारते हुए स्वयं बुद्ध ने कहा था “विष्व में न कोई आत्मा है और न ही आत्मा की तरह कोई अन्य वस्तु। पाँच ज्ञानेन्द्रियों का संघात मन और मन की वेदनायें ये सब आत्मा या आत्मा के समान किसी चीज से बिल्कुल शून्य है”। बुद्ध मानते थे कि स्थायी आत्मा के अस्तित्व में विष्वास रखना उसी प्रकार

हास्यास्पद प्रतीत होता है, जिस प्रकार कल्पित सुन्दरी के प्रति अनुराग रखना हास्यास्पद है। इस प्रकार बौद्ध मत में जहाँ स्थायी आत्मा को स्वीकार नहीं किया गया है, वही “चेतना की व्यवस्था” को स्वीकार किया गया है कि “चेतना का प्रवाह”(जतमंउ वी ब्वदेमपवनेदमे) ही आत्मा है, क्योंकि आत्मा का स्वरूप वास्तव में निरन्तर परिवर्तनशील, गतिशील तथा सतत् प्रवाहयुक्त है। बौद्ध दार्शनिक मानते हैं कि चेतना में एक प्रकार की एकता प्रतीत होती है—जैसे जलकणों से निर्मित नदी की धारा हमें एक प्रतीत होती है, भले ही वह असंख्यकणों की तीव्रगति से युक्त होती है। इसी प्रकार आत्मा भी क्षणिक विचारों, भावनाओं तथा प्रत्यक्षों का एक संघातमात्र है और कुछ नहीं। प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् नागसेन रथ के उदाहरण के माध्यम से आत्मा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि—“जिस प्रकार धुरी, पहिया, रस्सी, तीली आदि के संघात का नाम रथ है, उसी प्रकार पाँच स्कन्धों का संघात ही आत्मा है।<sup>13</sup> ये पाँच स्कन्ध क्रमशः रूप स्कन्ध, वेदना स्कन्ध, संज्ञा स्कन्ध, संस्कार स्कन्ध तथा विज्ञान स्कन्ध हैं। इन पाँचों स्कन्धों में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। जिसके कारण आत्मा भी परिवर्तित होती रहती है।”<sup>14</sup> बौद्ध मत में स्मृति की व्याख्या के माध्यम से भी आत्मा के स्थायित्व को नकारा गया है। इसके पीछे तर्क यह दिया गया है कि मानसिक दशा विषेषों में विद्यमान क्षणिक कार्य—कारण सम्बन्ध के ही कारण स्मृति बनी रहती है और इसका कारण पूर्ववर्ती मानसिक अवस्था है, जो आगामी मानसिक अवस्था को जन्म देती है। इसी प्रकार वर्तमान जीवन की अन्तिम अवस्था से भविष्य जीवन की प्रारम्भिक अवस्था का प्रादुर्भाव होता है। इसी प्रकार दोनों जीवनो में क्षणिक कार्य—कारण सम्बन्ध होता है।

बौद्ध दार्शनिक आत्मा को दीपक की लौ की भाँति निरन्तर क्षण—प्रतिक्षण परिवर्तित होता हुआ विज्ञानों का एक प्रवाह मानते हैं, जो जीवन भर दीपक की भाँति जलता रहता है और मृत्यु के बाद जैसे एक दीपक दूसरे दीपक को जला जाता है, उसी प्रकार दूसरे जीवन के रूप में जन्म लेता है। इस प्रकार कार्य—कारण सम्बन्ध का इतिहास कारण के ही कार्य रूप में परिणित होने का इतिहास है। बौद्धों के मत में कारण और कार्य दोनों क्षणिक हैं। अतः दोनों अस्थायी हैं। कार्य को कार्य इसलिए कहा जाता है कि उसकी क्षणिक सत्ता उसके पूर्ववर्ती कारण की क्षणिक सत्ता की समाप्ति द्वारा ही परिभाषित होती है। ऐसी कोई स्थायी सत्ता नहीं है, जिसमें परिवर्तन होता रहता हो, बल्कि एक परिवर्तन ही दूसरे परिवर्तन को जन्म देता रहता है या निर्धारित करता रहता है। इस निर्धारण का स्वरूप इस प्रकार का होता है—“उसके होते हुए यह हुआ।” अवयवावयवि सम्बन्ध के विषय में बौद्ध अवयवी की सत्ता का निषेध करते हैं। उनके अनुसार अवयव ही भ्रमात्मक रूप से अवयवी के रूप में प्रतिभासित होता है, वास्तविक नहीं होता है। एक—एक अणु एक क्षण में उत्पन्न होता है और दूसरे ही क्षण विनष्ट हो जाता है, तो इस प्रकार की स्थिति में “अवयवी” जैसी कोई सत्ता का अस्तित्व ही संभव नहीं है। प्रतीत्य समुत्पाद या द्वादश सिदान के माध्यम से भी कार्य—कारण की व्याख्या की गयी है कि प्रत्येक कार्य अपने सम्बद्ध कारण पर निर्भर रहता है। किसी भी घटना का आविर्भाव बिना कारण के नहीं हो सकता है। “अस्मिन् सति इदं भवति, अस्योत्पादादयमुत्पद्यत इति इदं—प्रत्ययार्थ प्रतीत्यसमुत्पादार्थः। हेतु प्रत्यय सापेक्षों भावनामुत्पादः प्रतीत्यसमुत्पादादार्थः।”<sup>15</sup> बौद्ध दर्शन में प्रतीत्य समुत्पाद का हेतुपनिबन्धन कारण इस प्रकार होता है—बीज से अंकुर, अंकुर से ग्रन्थि, ग्रन्थि से डंठल, डंठल से कली, कली से टूट, उससे फूल और तब फल। इस प्रकार एक कारण से दूसरे कारण को उत्पन्न करते जाना। “प्रतीत्यसमुत्पादस्य हेतुपनिबन्धनों यथा—बीजादङ्कुरः, अङ्कुषात्काण्डं, काण्डान्नालः, नालाद् गर्भ ततः शकू, ततः पुष्पं, ततः फलम्।” इस प्रकार आध्यात्मिक वस्तुओं का हेतुपनिबन्धन कारण ही “भवचक्र” कलहाता है। इसमें द्वादश श्रृंखला प्रदर्शित की गयी है। बौद्ध लोग इन्हें ही दुःख का कारण समझते हैं—क्षणिक वस्तुओं को स्थिर समझना या तत्त्वों को न जानना अविद्या है। इसी के अच्छे—बुरे कर्म से संस्कार होता है। संस्कार से ही विज्ञान या चैतन्य और विज्ञान से नामरूप,

षडायतन, स्पर्ष, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव क्रमः उत्पन्न होता है। इस प्रकार अविद्या को मूल कारण कहा गया है तथा जरामरण अन्तिम परिणाम कहा गया है। द्वादश निदान की बारह कड़ियाँ भूत-वर्तमान तथा भविष्य के जीवनों से सम्बन्धित हैं। इसमें अविद्या तथा संस्कार का भूत कालिक है। भविष्यकालिक भव, जाति, जरामरण है और शेष सात का सम्बन्ध वर्तमान काल से है। इस प्रकार बौद्ध दर्शन में कर्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन भी प्रतीत्य समुत्पाद के आधार पर ही हुआ है। प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त की मान्यता है कि भूतकालिक जीवन के आधार पर ही वर्तमान का निर्धारण होता है। यही मान्यता कर्म के सिद्धान्त की भी है।<sup>6</sup> बौद्ध दर्शन के प्रसिद्ध ग्रन्थ "मिलिन्दपन्हो" में कर्मों के प्रभाव की स्पष्ट व्याख्या प्राप्त होती है। उसमें वर्णन आया है कि—"अपने कर्मों में अन्तर के कारण मनुष्य एक समान नहीं होते, बल्कि कुछ दीर्घायु, कुछ अल्पायु, कुछ स्वस्थ तथा कुछ अस्वस्थ आदि होते हैं।" मनुष्य अपने कर्मों के लिए स्वयं जिम्मेदार है तथा उसे स्वयं ही कर्मों का फल भोगना होता है। मनुष्य का चरित्र भी कर्मों के फल का निर्धारक होता है। यदि किसी व्यक्ति का अपना चरित्र बुरा है, तो उसके द्वारा किये गये बुरे कर्म का फल या दण्ड अधिक भयावह होगा तथा घोर नरकीय कष्ट सहन करना पड़ेगा, किन्तु इसके विपरीत यदि चरित्र उत्तम है, तो बुरे कर्म का फल उतना गंभीर नहीं होगा। कर्मफल के इस अन्तर का उदाहरण "अंगुत्तर निकाय" में एक उपमा के द्वारा स्पष्ट किया गया है—यदि एक छोटे प्याले के पानी में नमक का एक ढेला डाल दिया जाय, तो वह प्याले के पानी को अत्यधिक खारा करके पीने के अयोग्य बना देगा। इससे भिन्न यदि उतने ही बड़े नमक के ढेले को गंगा के पानी में डाल दिया जाये, तो उसका कोई स्पष्ट बुरा प्रभाव नहीं होगा। कर्मों से मुक्ति की संभावना को भी स्वीकार किया गया है। बौद्ध मत मानता है कि अपने संकल्प द्वारा भविष्य को सुधारा जा सकता है।

बौद्ध दर्शन मानता है कि निर्वाण की अवस्था में कर्मों का प्रभाव लुप्त हो जाता है तथा पूर्व कर्मों के फल भी नष्ट हो जाते हैं। इस अवस्था में किये गये कर्मों का कोई प्रभाव नहीं होता है। अविद्याजनित जो कार्य होते हैं, उसके फल भोगने अनिवार्य होते हैं और यदि अविद्या नष्ट हो जाती है, तो उसके कर्म उसी प्रकार नहीं होते, जैसे कि भूने हुए बीज को बो देने पर अंकुर नहीं निकलता है।

इस प्रकार अन्य भारतीय दर्शनों के समान बौद्ध मत पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करता है। इसका कारण बौद्ध का "अनात्मवाद" है। जब बौद्ध मत में स्थायी आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया गया, तब पुनर्जन्म को कैसे माना जा सकता है? जीवन की शारीरिक मृत्यु के उपरान्त ही कर्म संस्कार बन जाते हैं और संस्कारों का निर्धारण जीवन के कर्मों के आधार पर होता है। ये संस्कार ही आगामी जन्म के साथ सम्बन्ध जोड़ते हैं, किन्तु जब निर्वाण प्राप्त हो जाता है, तो नये जीवन का आरम्भ होना बन्द हो जाता है। अपरोक्षानुभूति के लिये बुद्ध ने "आत्मा" या ब्रह्म शब्द का प्रयोग नहीं किया है, किन्तु 'निर्वाण' के लिये इसे स्वीकार कर परमतत्त्व की मान्यता दी है। बुद्ध "आत्मा" को समस्त क्लेशों का और अहंकार ममकार का केन्द्र मानकर अनर्थों का स्रोत बताये हैं।

**निष्कर्ष:**— इस प्रकार बुद्ध के सारे उपदेशों का सार बुद्धि-विकल्पों से ऊपर उठकर शील-समाधि प्रज्ञा द्वारा इस अपरोक्षानुभूति का साक्षात्कार करके निर्वाण प्राप्त करना है। इस प्रकार अनात्मवाद के समीक्षात्मक विप्लेषण से इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि महात्मा बुद्ध ने आत्मा के दो रूप माने हैं—व्यावहारिक और परमार्थिक। व्यावहारिक दृष्टि से ही आत्मा को अनित्य, परिवर्तनशील बताया है और आत्मा का यही स्वरूप दुःख विनाश के लिए आवश्यक है। "आत्मा" के परमार्थिक स्वरूप के विषय में पूछे जाने पर महात्मा बुद्ध सदैव मौन रहते थे और इस कोटि के प्रज्ज बौद्ध दर्शन में 'अव्यक्तानि' के अन्तर्गत समाहित है।<sup>7</sup> इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि बौद्धमत कर्मफल को तो अनिवार्य मानता है, किन्तु पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करता है। इसका मुख्य कारण "बौद्ध

अनात्मवाद" है।

### संदर्भ ग्रंथ

1. दीघ निकाय, 16—महापरिनिव्वानसुत्त।
2. गुणरत्न की तर्क रहस्य दीपिका पृष्ठ संख्या—30
3. ओल्डेनवर्ग का पूर्वोद्धृत ग्रन्थ—पृष्ठ संख्या—254 एवं तुलनीय—मिलिन्दपन्ह 2/1/1/स्थ की निदर्शना। 18 संख्या—9
4. महावग्ग—1,1,1 से 5 तक
5. दीघनिकाय, 9—पोट्टपादसुत्त।